

राष्ट्र आज एक ऐसे ग्रामीण समाज में असमान रूप से परिवर्तित हो चुका है जिसमें हर कोई संकट से घिरा नजर आ रहा है। इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि छोटे और मझौले किसानों की दशा भूमिहीन किसानों से भी बदतर हो चुकी है। इसे समझना कठिन नहीं है। गैर सम्बद्ध राजनेता प्रायः भरोसा कर लेते हैं कि उनके नौकरशाहों द्वारा तैयार नीतियों से लक्ष्य प्राप्त करने की गारंटी है। क्षेत्रीय असमानता को नीतियां बनाते समय ध्यान में नहीं रखा जाता है। एक ही योजना जो वर्षा आधारित जनजाति क्षेत्र और भरपूर सिंचाई वाली पंजाब की जमीन के लिए बनाई जाएगी तो उसका परिणाम अच्छा नहीं रहेगा। किसी भी नीति की बाधाएँ उस राष्ट्र के लिए हानिकारक सिद्ध होंगी। राष्ट्रीय कृषि विकास योजना में जो कमियां सी.ऐ.जी. ने निकाली वह ऐसा उदाहरण है जिससे स्पष्ट होता है कि नीतियां बनाने का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है यदि उन लोगों को शामिल न किया जाए जिनके माध्यम से इन योजना या कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना होता है, जैसे गांव के पटवारी और किसी भी क्षेत्र के किसानों के सुझाव/संपर्क अतिआवश्यक हैं।

मनरेगा और कृषि ऋण माफ करना आदि ऐसे परोपकारी कार्य हैं, लेकिन ये होने पर भी किसान क्यों असहाय है और भारत के गांव संकट में हैं। आंकड़े चाहे कुछ भी कहें लेकिन प्रत्येक किसान महसूस करता है कि खेती करना लाभकारी नहीं रह गया है, जिसका प्रमुख कारण मजदूरी लागत में वृद्धि है जिसके पीछे मनरेगा है। कुल खेती की लागत में औसतन 40 प्रतिशत मजदूरी में जाती है। फसल की बुआई और कटाई के समय मजदूरों की बहुत आवश्यकता होती है जिस कारण मजदूरी लागत दोगुनी हो जाती है। बड़ी हुई मजदूरी से खेती में लाभ कम होता जाता है और इससे खाद्य मुद्रा स्फीति भी बढ़ती है। यह सोचा गया था कि ग्रामीण मजदूरी बढ़ाने से निर्धनता कम हो जाएगी। ग्रामीण मजदूरी बढ़ाने से उच्च मुद्रा स्फीति कम नहीं होती। यह लगभग न्यूनतम समर्थन मूल्य में वृद्धि करने जैसा ही है। न्यूनतम समर्थन मूल्य में अधिक वृद्धि से खेती पर होने वाले खर्च में कोई कमी नहीं आती है। रिकॉर्ड में मजदूरी की लागत को न्यूनतम समर्थन मूल्य की सिफारिश करते समय ध्यान में नहीं रखा जाता और इसे शामिल नहीं किया जाता ताकि उपभोक्ता के हितों की रक्षा की जा सके। हालांकि मनरेगा एक अच्छा कार्यक्रम सिद्ध हो सकता है लेकिन इसके लिए कड़े कदम उठाने होंगे। यदि मजदूरी के 100 दिनों को खाली मौसम के 250 दिनों के लिए आरक्षित कर दिया जाए तो इससे बिना अधिक निवेश के न केवल रोजगार दिवसों की संख्या दोगुनी होगी बल्कि लोगों की समृद्धि भी सुनिश्चित होगी और खाद्य मुद्रा स्फीति भी नियंत्रण में रहेगी।

हाल ही में कृषि ऋण को माफ करने पर वार्तालाप हुई लेकिन किसानों की समस्या का यह समाधान नहीं है क्योंकि केवल उन्हीं किसानों को ऋण माफ का लाभ मिला जिन्होंने संस्थाओं से लिए हुए ऋण का भुगतान नहीं किया था। संस्थाओं से ऋण लेने के लिए केवल आधे किसानों की पहुंच ही है। कृषि ऋण माफ करने का लाभ या न्यूनतम खरीद मूल्य जैसे कार्यक्रमों का लाभ लाखों मझौले किसानों को नहीं मिलता और न ही उन्हें जो वर्षा पर आधारित क्षेत्रों में खेती करते हैं। इसी कारण नकसलीजम बढ़ता जा रहा है।

जिन किसानों के पास कम भूमि है उन्हें इतनी भी आय प्राप्त नहीं होती कि वे अपना जीवन निर्वाह कर सकें। देखा जा सकता है कि प्रमुख रूप से उन किसान परिवारों के लोग ही आत्महत्या कर रहे हैं जिन्हें कृषि के अतिरिक्त कहीं ओर से आय प्राप्त नहीं होती। आंकड़ों का विश्लेषण करने के पश्चात समाजवादियों द्वारा अर्थ निकाला गया है कि निर्धनता कम हो रही है। लेकिन वास्तव में समग्र ग्रामीण भारत में संकट बढ़ रहा है और निराशा फैलती जा रही है।

## भारतीय किसानों की दशा

कविता कुरुगंती—राष्ट्रीय संयोजक, सतत एवं कृषि के लिए एलायंस (आशा) ; सदस्य, न्यूनतम समर्थन मूल्य की फिक्सिंग पर भारत सरकार की समिति

ऐन.ऐस.ऐस.ओ. के 70वें राउंड में किसान परिवारों की दशा का विवरण दिया गया है। यह कार्य स्वतंत्र भारत में केवल दूसरी बार किया जा रहा है। पिछली बार ऐसे ही सर्वेक्षण (वर्ष 2013 में 59वां दौर) की तुलना में यह आंकड़े अलग से नहीं हैं और इसमें एक दशक के दौरान कृषि परिवारों की परिभाषा में परिवर्तन कर दिया गया है। इस जांच के निष्कर्ष में कुछ लोगों का मानना है कि भारत सही विकास की ओर जा रहा है क्योंकि अब अर्थव्यवस्था में कृषि की भूमिका कम होती जा रही है।

इस स्थिति को ऐसे भी परिभाषित किया गया है कि 'ग्रामीण कृषि के समान नहीं है' क्योंकि केवल 57.8 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों को कृषि परिवार के रूप में नवीनतम ऐन.ऐस.ऐस.ओ. के सर्वेक्षण में परिभाषित किया गया है ; केवल 63.5 प्रतिशत कृषि परिवारों को दिखाया गया है जो प्रमुख रूप से कृषि आय पर निर्भर हैं और उनकी आय का केवल 59 प्रतिशत भाग कृषि और पशुधन से प्राप्त होता है।

हालांकि ऐसा प्रतीत नहीं होता है। वर्ष 2003 में 60 प्रतिशत ग्रामीण परिवार कृषि कारोबार में जुटे हुए थे और तत्कालिक ऐन.ऐस.ऐस.ओ. के द्वारा इन्हें कृषि परिवारों के रूप में परिभाषित किया गया था। इसमें पिछले बार के 58 प्रतिशत के आंकड़े में बहुत अंतर नहीं है। केवल परिभाषा बदल दी गई है। 70वें राउंड की जांच का परिणाम उस समय आया है जब इन्टैलिजेंस ब्यूरो ने प्रधानमंत्री को किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्या में वृद्धि की रिपोर्ट दी और कृषि संकट के व्यापक समाधान की आवश्यकता पर बल दिया है न कि लघुकालिक उपाय का समाधान।

अन्य उपलब्ध आंकड़ों में भी कृषि पर ध्यान देने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। चाहे घरेलू सकल उत्पाद में इसका योगदान कुछ भी हो : ऐन.ऐस.ऐस.ओ. के 68वें राउंड में रोजगार (जुलाई 2011 – जून 2012) और जनगणना 2011 संबंधी आंकड़ों में इसका विवरण दिया गया है। 68वें राउंड में उल्लेख है कि ग्रामीण श्रमिकों (59 प्रतिशत पुरुष श्रमिक और 75 प्रतिशत महिला श्रमिक) का 64.1 प्रतिशत भाग कृषि में जुटा था।

जनगणना 2011 में उल्लेख है कि वर्ष 2001 की तुलना में वर्ष 2011 में 90 लाख किसान कम थे (प्रतिशतता में 7.1 प्रतिशत कुल कार्यबल में कमी थी जो 2011 में 24.6 प्रतिशत हो गई), वर्ष 2001 की तुलना में वर्ष 2011 में 3 करोड़ 68 लाख कृषि श्रमिक बढ़ गए (कृषि श्रमिक दर्जे में लगे हुए कुल कार्यबल के अनुसार इसमें 3.3 प्रतिशत की वृद्धि, यह आंकड़ा भारतीय कार्यबल 30 प्रतिशत बनता है जिसे कृषि श्रमिकों के वर्ग में रखा गया है।

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार ग्रामीण भारत में कुल श्रमिकों में से 33 प्रतिशत को किसान की श्रेणी दी गई है और 39.3 प्रतिशत को कृषि श्रमिकों का दर्जा दिया गया है। इसमें 72.3 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में और जुड़ चुके हैं। यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि ऐन.ऐस.ऐस.ओ. के 70वें राउंड में कृषि परिवारों की परिभाषा में भिन्नता लाने का प्रयास किया गया है जिनके पास अपनी जमीन है और उन परिवारों को अलग रखा गया है जो पूर्ण

रूप से कृषि श्रमिकों पर निर्भर हैं। इन सबका अध्ययन करने के पश्चात नवीनतम परिणामों से कोई सकारात्मक उपाय नजर नहीं आता है।

वर्ष 2003 और 2013 की अवधि में देखने से चिंता बढ़ती है कि केवल 29 प्रतिशत किसान ही न्यूनतम समर्थन मूल्य से परिचित थे; वर्ष 2013 में सभी फसलों के संबंध में यह सीमा 2.5 प्रतिशत से 39.8 प्रतिशत थी। केवल 4 प्रतिशत किसानों ने फसलों का बीमा कराया था और वर्ष 2003 में ही 57 प्रतिशत लोग फसल बीमा के बारे में नहीं जानते थे। वर्ष 2013 में भी जहां तक फसलों का संबंध है 90 प्रतिशत से अधिक किसान परिवारों के पास फसल बीमा नहीं है। मूंगफली, सोयाबीन, कपास और चने जैसी कुछ फसलों को छोड़ दें तो लगभग 86 से 90 प्रतिशत किसानों ने फसल बीमा नहीं कराया है।

वर्ष 2003 में 8 करोड़ 94 लाख किसान परिवारों में से 48.6 प्रतिशत ऋणी थे, और प्रति किसान परिवार अखिल भारतीय स्तर पर इनका औसत बकाया ऋण लगभग रू. 12,585/- बनता है। उस समय 57.7 प्रतिशत परिवारों ने संस्थाओं का ऋण चुकाना था। वर्ष 2013 में प्रति कृषि परिवार का औसत बकाया ऋण रू. 47,000/- के आसपास था, इस प्रकार अनुमान था कि 52 प्रतिशत किसान परिवार ऋणी थे। इस ऋण में से 60 प्रतिशत संस्थाओं से लिया गया था और कहना होगा कि संस्थाओं ने ऋण देने में अपनी पहुंच बढ़ाने में थोड़ी प्रगति की है। जिन किसानों के पास कम भूमि थी उनमें से केवल 15 प्रतिशत ने संस्थाओं से ऋण लिया था जिससे पता चलता है कि ऋण का बोझ बड़े किसानों पर था। वर्ष 2003 में 57 प्रतिशत किसान परिवारों की आय का प्रमुख स्रोत कृषि था। एक दशक के बाद 63.5 प्रतिशत किसान परिवारों की आय का प्रमुख स्रोत कृषि बताया गया है जिसमें तेलंगना (86.8 प्रतिशत), छत्तिसगढ़ (80.5 प्रतिशत), आसाम (76.7 प्रतिशत), मध्य-प्रदेश (75.3 प्रतिशत), झारखंड (72.5 प्रतिशत), महाराष्ट्र (71.7 प्रतिशत), बिहार (69.7 प्रतिशत), कर्नाटका (69.4 प्रतिशत) और उत्तर-प्रदेश (65.2 प्रतिशत) जैसे राज्यों के आंकड़े राष्ट्रीय औसत से अधिक हैं।

किसान परिवारों की आय और व्यय संबंधी अंतर सबसे अधिक चिंताजनक पहलू है। किसान परिवारों की औसत राष्ट्रीय मासिक आय लगभग रू. 6,426/- बनती है या प्रति व्यसक रू. 107/- दैनिक, यदि एक घर में दो व्यस्कों का उदाहरण लिया जाए। अधिकतम स्थानों में यह राशि अकुशल कामगारों के लिए निर्धारित न्यूनतम वेतन से भी कम बैठती है। कृषि से प्राप्त औसत मासिक आय 47.9 प्रतिशत, पशुधन से 11.9 प्रतिशत, वेतन मजदूरी से 32.2 प्रतिशत और गैर कृषि कारोबार से 8 प्रतिशत की दर से आय का अनुमान लगाते हुए यह राशि रू. 6426/- मासिक प्रति परिवार बैठती है।

कुछ लोग इसके लिए भारत में भ्रष्ट जन वितरण प्रणाली कार्यक्रम को जिम्मेदार ठहराते हैं। इन आंकड़ों से भी स्पष्ट होता है कि किसान परिवारों के 4.9 प्रतिशत लोगों के पास अन्नतोदया राशन कार्ड है और 36.4 प्रतिशत के पास बी.पी.एल. कार्ड हैं जबकि 12.3 प्रतिशत के पास राशन कार्ड ही नहीं हैं। यह दर्शाता है कि भारत में अन्नदाता जैसी योजनाओं से कितना सुधार हो सकता है।

वर्ष 2003 में अखिल भारतीय स्तर पर भूमि के आकार के संबंध में औसत मासिक आय रू. 2115/- थी जबकि किसान परिवार का मासिक खर्चा रू. 2007/- था। कहा जा सकता है कि वर्ष 2013 में इसमें आंशिक सुधार हुआ है (अखिल भारतीय स्तर पर किसानों के औसत मासिक खर्च की तुलना में मासिक आय कुछ बढ़ है और कृषि और पशुधन से प्राप्त आय में भी वर्ष 2000 की तुलना में वृद्धि हुई है)। संस्थाओं द्वारा पैसा देने के मामलों में यह देखा गया है कि जिन किसानों के पास कम भूमि है उनकी दशा बदतर हुई है। क्योंकि उन्हें सरलता से ऋण प्राप्त नहीं होता है।

अलग-अलग भूमि के आकार वाले किसानों की आय और व्यय के अध्ययन से देखा जा सकता है कि लगभग 6.26 करोड़ किसान परिवार ऋणी हैं और इससे ज्यादा क्या कहा जा सकता है कि औसतन प्रति परिवार के मासिक खर्च और प्राप्त आय के बीच रु. 856/- मासिक का घाटा होता है। भारत में लगभग 70 प्रतिशत किसान परिवारों की यही स्थिति है।

अतः भारत में कृषि आय पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। सरकार को किसानों से संबंधित सभी गतिविधियों के प्रति जिम्मेवार बनना होगा ताकि उन्हें न्यूनतम जीवन निर्वाह की राशि पहुंच सके। किसानों से संबंधित राष्ट्रीय कमीशन ने भी किसानों की आर्थिक स्थिति पर ध्यान केंद्रित करने के लिए कहा था। यह कार्य कृषि मंत्रालय द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप से हटकर करने की आवश्यकता है। विभिन्न किसानों की पास भूमि के आकारों, भिन्न क्षेत्रों और फसलों के आधार पर नियमित रूप से विश्लेषण करते हुए उनकी आय का मूल्यांकन करना कठिन नहीं है। ऐन.डी.ऐ. सरकार द्वारा प्रस्तावित बीमा आय योजना एक अच्छी शुरुआत हो सकती है जो प्रत्येक किसान परिवार के लिए न्यूनतम आय का साधन बन सके (पिछले 3 वर्षों की फसल और मूल्य के औसत के आधार पर न हो जैसा प्रस्ताव रखा जा रहा है)। इस प्रकार की न्यूनतम राशि देने के लिए किसी प्रकार की बड़ी चुनौती नहीं होनी चाहिए। न्यूनतम मजदूरी नियत करने के अतीत के अनुभव और अन्य क्षेत्रों में पेय कमीशन में भी दर्शाया गया है कि वास्तव में एक कारगर फॉर्मूला संभव है।

इसके अतिरिक्त, उचित मूल्य हस्तक्षेप से किसान परिवारों की सहायता करना भी एक प्रमुख समाधान और उपाय है। यदि सरकार मूल्य कमी भुगतान जैसे प्रस्तावों पर गंभीरता से विचार करे, अधिक खरीद की तैयारी और खरीद एवम वितरण प्रणाली में सुधार करें तो कुछ आशा बनती है कि लाखों किसानों का भला हो सकता है जो पूरे देश के भरण-पोषण के लिए कड़ा परिश्रम करते हैं।

इस तथ्य से भी बचा नहीं जा सकता कि देश में विद्यमान फसल बीमा के डीजाईन और क्रियान्वयन में अत्यधिक सुधार की आवश्यकता है क्योंकि जलवायु परिवर्तन प्रमुख समस्या बनता जा रहा है। यदि एक राष्ट्र के रूप में इन मुद्दों का समाधान नहीं किया गया तो समाज में असमानता बढ़ती जाएगी और इस कारण बहुत से लोग समाज से कट सकते हैं, उनकी एक मात्र आशा सरकार से ही है की उन्हें कोई सम्मानित विकल्प उपलब्ध करवाया जाए।

## निर्धन या अमीर; प्रत्येक किसान के लिए संकट

श्री प्रभाकर केलकर – अखिल भारतीय महासचिव, भारतीय किसान संघ

जहां तक भूमि का संबंध है लगभग सभी गांव में इसके टुकड़े हो रहे हैं और औसत उत्पादन गिरने के कारण प्राप्त होने वाली आय में कमी होती जा रही है। विदेशों में ऐसा नहीं होता है क्योंकि वहां भूमि के टुकड़े करने की अनुमति नहीं है और यदि किसी किसान के दो बेटे हैं; एक खेती करता है तो दूसरा कोई और कार्य करता है तो उस किसान को खेती पर तभी प्रोत्साहन दिया जाता है जब वह बेरोजगार हो अन्यथा नहीं। किंतु भारतीय समाज में ऐसा नहीं है और भारत में व्याप्त रूढ़िवादिता को बदलना बहुत कठिन है। यह एक समस्या है और कृषि क्षेत्र को बड़े-बड़े घरानों के हाथों में सौंपा जा रहा है। यह घराने भूमि के टुकड़ों की खरीद कर लेते हैं और उन पर बड़े उद्योग लगा देते हैं। किसानों को स्वयं इस खंडित भूमि के गंभीर मुद्दे का समाधान निकालना होगा।

कुछ परिवारों में एक बेटा तो खेती करता है और दूसरा आई.ऐ.एस. अधिकारी या इंजीनियर बन जाता है तो भी वह गांव की भूमि पर अपना हक नहीं छोड़ता है। जो लोग नौकरी करते हैं और कृषि भूमि भी रखते हैं उनमें और जिनके पास केवल भूमि है उनमें, जमीन आसमान की असमानता है। लगभग 83 प्रतिशत किसानों के पास औसतन 3 एकड़ भूमि है, जो उनकी निर्धनता का कारण है, इन्हीं साधनों से उसे अपनी सामाजिक और आर्थिक जिम्मेवारियों का बोझ उठाना पड़ता है। उसे गांव में रहना पड़ता है, खेती करनी पड़ती है, बच्चों का विवाह, अपने घर की मरम्मत आदि जैसे खर्चों की व्यवस्था भूमि से प्राप्त आय से नहीं कर पाता। इस कारण साहूकारों से उधार लेना पड़ता है। इस भ्रष्ट और अनैतिक चक्र को जल्दी खत्म करने की आवश्यकता है।

सामाजिक संस्थाएं किसानों में इस प्रकार का परिवर्तन लाने का प्रयास कर सकती हैं कि यदि किसी व्यक्ति के पास नगर या शहर में जीवन निर्वाह का अन्य स्रोत है तो वह कृषि भूमि पर दावा न करे। छोटे किसानों के सुधार के लिए एक कारगर नीति बनाने की आवश्यकता है और इसके लिए आर्थिक पद्धतियों को विकेंद्रीकृत करना होगा और छोटे उद्योगों को बढ़ावा देना होगा न कि केन्द्रीकृत आर्थिक नीतियों को।

इसके अतिरिक्त, गांव से सुविधाएं समाप्त होती जा रही हैं। आजकल गांव में नाई तक नहीं है और युवकों व बच्चों को अपने बाल कटाने के लिए 10 कि.मी. दूर जाना पड़ता है। गांव में छोटी चावल मिलों की आवश्यकता है जहां पर धान उगाई जाती है और तिलहनों के लिए छोटी-छोटी तेल मिलों की आवश्यकता है। मध्य-प्रदेश में इतना अधिक सोयाबीन होता है, उसके लिए विशेष प्रोसेसिंग की आवश्यकता है। लेकिन सरसों के लिए तो केवल छोटी मिल से भी काम चलाया जा सकता है जिसकी लागत रु. 5 – 10 लाख के बीच आती है। आटे की चक्कियां गांव में नहीं हैं। महानगरों में ही नहीं अब राज्यों के जिलों में भी लोग पैकेट बंद आटा खरीदते हैं।

यह दर्शाता है कि गांव में रोजगार के अवसर समाप्त होते जा रहे हैं और कुछ ही लोग ऐसे हैं जो गांव में जूते से लेकर सुई और धागे जैसे कार्यों में लगे हुए हैं। गांव में इस प्रकार के कारोबार को वापिस लाने की आवश्यकता है, जिसके लिए कारगर योजना की आवश्यकता है। सरकारी नीतियों में इन पर ध्यान देना चाहिए। बजट में गांव के विकास के लिए रु. 20,000/- करोड़ दिए गए हैं लेकिन कोई नहीं जानता इन्हें कैसे खर्च किया जा रहा है।

10 वर्ष पहले किसानों की सहकारी समिति के साथ प्रत्येक पंचायत के लिए एक खरीद योजना की सिफारिश की गई थी। यह समिति गांव में गोदाम बनाने, भंडारण सुविधा देने और 5 – 5 हजार बौरियां रखने के लिए ऋण दे सकती है और इनमें जिन्सें रखने पर किसानों को 80 प्रतिशत तक की आर्थिक सहायता दी जा सकती है। यदि कोई किसान गोदाम में 100 बोरे माल जमा कराता है तो उसे 70 बोरों के मूल्य तक का ऋण दिया जा सकता है और जब किसान के माल की बिक्री की जाए तो उस राशि में से ऋण जमा करने के बाद शेष राशि उसे वापिस की जा सकती है। इस बजट में बैंकों से 8.5 लाख करोड़ का ऋण देने की घोषणा की गई थी। यह योजना केवल पेपरों तक ही सीमित रह गई। बैंकों से राशि प्राप्त करना भी सरल नहीं है। जिसके लिए किसानों को कई प्रकार के दस्तावेज आदि देने होते हैं। किंतु उपरोक्त योजना छोटी तो है लेकिन गांव वालों को सक्षम बना सकती है और उनकी खरीद क्षमता बढ़ा सकती है। लेकिन इस पर कम ध्यान दिया जा रहा है। हम पूंजीवाद, केन्द्रीयकरण की ओर बढ़ रहे हैं, जबकि हमें विकेन्द्रीयकरण पर ध्यान देना चाहिए।

उर्वरक के बारे में बात करें तो पिछले बजट में रू. 72,000/- करोड़ की आर्थिक सहायता दी गई थी और निर्धारित किया गया था कि यह राशि कहां जाएगी, किसे मिलेगी यह सब विवरण था। किंतु, बजट 2015 में इसका कोई उल्लेख ही नहीं है। लेकिन यूरिया आयात में इस वर्ष 40 लाख टन की कमी कर दी गई है। यह कोई नहीं जानता की क्या यह किसी योजना या नीति का भाग था। किसानों से कहा जा रहा है कि वह अन्य फसलें उगाएँ। यह हो सकता है कि उर्वरक का आयात कम होने के कारण किसान पारंपरिक फसलें उगाने पर मजबूर हो जाए। वास्तव में लोगों को प्रेरित किया जा सकता है कि वह कुछ और कार्य करें लेकिन उनके साथ खिलवाड़ करना या साजिश करके लोगों को बदलना लोकतंत्र का भाग नहीं है।

भारत भी एक बड़ा दुग्ध उत्पादक देश है और अमूल में और अन्य स्थानों पर लोग कहते हैं कि दूध का पर्याप्त माल है। उदाहरण के लिए मध्य-प्रदेश में आवश्यकता से बहुत अधिक दूध होता है। लेकिन यह किसी को नहीं मालूम दूध का अधिक उपभोग कैसे किया जाए। लेकिन मिलावटी या सिंथेटिक दूध पर अंकुश लगाना होगा। मध्य-प्रदेश में 60,000 टन दूध पाउडर पड़ा हुआ है। इसके निर्यात के लिए एक नीति बनाई जा सकती है जिससे दूध उत्पादकों को सहायता मिलेगी। लेकिन जब कपास की मिलों के मालिक चाहते हैं तो सरकार द्वारा आयात बंद कर दिया जाता है या इसका विरोध किया जाता है, सबकुछ मिल मालिकों की इच्छा के अनुसार।

एक अन्य मुद्दा बीज का है। यदि बीजों पर अधिकार गया तो भारत का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा। हमने जी. एम. बीजों की नीति का विरोध किया है। मिडिया में कहा गया है कि 'वे लोग जो तकनीकी को समझते नहीं हैं वे ही जी.एम. बीजों का विरोध कर रहे हैं'। हम केवल इतना जानते हैं कि यदि हम अपने खेतों पर बीज नहीं उगा सकते, घरों में नहीं रख सकते तो हमें इस प्रकार की बीजों की वितरण नीति की आवश्यकता नहीं है। आप कब तक किसानों को निर्भर रखना चाहते हो, किसान कब तक प्रत्येक वस्तु बाजार से ही खरीदता रहेगा ? प्रत्येक तकनीकी खोज को समस्त लोगों पर लागू करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की खोज पर व्यापक विचार करने और इसकी जांच करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार से भूमि अधिग्रहण का मामला है। हमने 4 अलग-अलग सुझाव दिए थे। पहला, एक भूमि बैंक बनाया जाए जिसके लिए लगभग 10 लाख एकड़ भूमि लेकर उस पर स्पैशल इकोनोमिक जौन बनाया जाए। दूसरा, लगभग 15 – 20 वर्ष पहले देश के कई जिलों में औद्योगिक परियोजनाओं के लिए 77,000 एकड़ भूमि अधिकतम की गई थी। उसका दो-तिहाई भाग अभी भी बेकार पड़ा है। उस पर आरंभ किये गये कारोबार बंद हो गये या उनका दिवालिया निकल गया। नागपुर की एमप्रेस मिल पर आज एक बहुत बड़ा मॉल बन चुका है। हम जानना

चाहते हैं भूमि उपयोग में कैसे परिवर्तन किया गया। सबसे पहले इस प्रकार की भूमि का उपयोग किया जाना चाहिए जो बंजर हो।

किसानों को अपनी भूमि पट्टे पर देने की अनुमति होनी चाहिए न कि उनसे जमीन छीनी जाए। भूमि को बांड पर लिया जा सकता है कि यदि कारोबार 25 वर्ष चलता है तो लीज को नवीकृत किया जाएगा। आज देश में 2,50,000 स्कवेयर कि.मी. भूमि बंजर पड़ी है और इसका उपयोग किया जाना चाहिए, यह देश की कुल भूमि का 20 प्रतिशत है। आप जैसा चाहें शहर बसाओं, उद्योग लगाओ लेकिन उसके लिए जल, बिजली, सड़के, रेल की सुविधा दी जानी चाहिए। यदि नर्मदा के जल को एक राज्य से पाईपलाईन और नहरों के माध्यम से 2,500 कि.मी. दूर तक लाकर गुजरात के 76 स्पेशल ईकोनोमिक जौनस को मीठा पानी दिया जा सकता है तो अन्य राज्यों में ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता। इसके लिए किसानों की ही भूमि क्यों ली जाए।

देश के करोड़ों लोगों के लिए अनाज जुटाना भी एक मुद्दा है और इसके लिए कितने अनाज की आवश्यकता होगी। कृषि क्षेत्र के लिए राशि का आबंटन सकल घरेलू उत्पाद में इसके अंशदान के अनुसार करना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों तक कम से कम 5 प्रतिशत तक बजट आबंटन कृषि क्षेत्र को दिया गया था। आज यह 0.7 प्रतिशत है। किसान कैसे जिएगा ?

दूसरे, उर्वरकों के उपयोग से भूमि दूषित हो चुकी है। भारत में 11 कृषि क्षेत्र (जोन) हैं और हमने प्रस्ताव दिया था कि जैविक कृषि के लिए वहां 11 विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएं। जब किसान जैविक फसलें उगाते हैं तो उन फसलों के जैविक होने का प्रमाण पत्र लेना बहुत बड़ा सिरदर्द है। यदि हमारे यहां जैविक कृषि विश्वविद्यालय होंगे तो उनका सत्यापन सरलता से कराया जा सकता है।

असनावर मनपुरा गांव, जिला: झालावर, राजस्थान में 200 गांव जैविक फसलें उगाते हैं और उनकी ऑनलाईन बिक्री करते हैं जैसे गेहूं, चना, हल्दी आदि। इस प्रकार के कारोबार को बढ़ाना चाहिए। जिस स्थान पर उत्पादन हो वहीं पर पैक किया जाए, मूल्य निर्धारित करके इनकी बिक्री के लिए सरकार गारंटी दे।

एक अन्य अदृश्य संकट भी है। एक तरफ तो डब्ल्यू.टी.ओ. का दबाव है तो दूसरी तरफ नकद अंतरण योजना (कैश ट्रांसफर स्कीम) आरंभ की गई है। क्या इसका अर्थ यह है कि जन वितरण प्रणाली के लिए खरीद बंद कर देनी चाहिए ? यदि जन वितरण प्रणाली के लिए खरीद नहीं होगी तो न्यूनतम समर्थन मूल्य का सुरक्षा कवच भी नहीं मिल पाएगा ? इस प्रकार के गंभीर मामलों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।